अणिमा

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

Surykant Tripathi

प्रकाशक
चौधरी राजेन्द्रशंकर
युग-मन्दिर
उन्नाव

मूल्य सवा रुपया,

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
अवध-प्रिंटिंग-वर्क्स
लखनऊ.

भूमिका

'अणिमा' मेरे इधर के पद्यों का संग्रह है। अधिकांश गीत हैं। कुछ गीत आल-इण्डिया-रेडियो, दिल्ली और लखनऊ, से गाये गये हैं। प्राय: सभी गीतों की भाषा सरल है। भाषा में भी कई प्रकार हैं। गाने की अनुकूलता और स्वर के सौन्दर्य और श्रुति-मधुरता के विचार से, पुस्तिका के प्रारम्भ के गीत मुझे ज़्यादा पसन्द हैं। मेरे कुछ साहित्यिक मित्रों ने बाद के गीतों की तारीफ़ की है। उनकी भाषा गद्य के अनुसार है। प्रान्तीय भाषाओं में, ख़ासकर उर्दू में, यह प्रकरण है और ज़ोरों से चल रहा है। मैंने पहले भी इस प्रकार के पद्य लिखे हैं। कुछ छोटी-बड़ी रचनाएँ प्रसिद्ध जनों पर हैं जो काव्य की दृष्टि से, आलोचकों के कथनानुसार, अच्छी आई हैं। पढ़ने पर पाठकों को प्रसन्नता होगी। मुझे विश्वास है कि शीघ्र नये नये उद्भावनों से मैं हिन्दी के समुत्साही पाठकों की अधिक से अधिक सेवा कर सकूँगा। इति।

युग-मन्दिर, उन्नाव
१. ८. ४३.

—"निराला"

विषय-सूची

संख्या	विषय			पृष्ठांक

नूपुर के सुर मन्द रहे,

जब न चरण स्वच्छन्द रहे।

उतरी नभ से निर्मल राका,

पहले जब तुमने हँस ताका

बहुविध प्राणों को झंकृत कर

बजे छन्द जो बन्द रहे।

नयनों के ही साथ फिरे वे

मेरे घेरे नहीं घिरे वे,

तुमसे चल तुममें ही पहुँचे

जितने रस आनन्द रहे।

'४१

१०

बादल छाये,
ये मेरे अपने सपने
आँखों से निकले, मडलाये।
बूँदें जितनी
चुनी अधखिली कलियाँ उतनी;
बूँदों की लड़ियों के इतने
हार तुम्हें मैंने पहनाये।

गरजे सावन के घन घिर घिर,
नाचे मोर बनों में फिर फिर
जितनी बार
चढ़े मेरे भी तार
छन्द से तरह तरह तिर,
तुम्हें सुनाने को मैंने भी
नहीं कहीं कम गाने गाये।

'४१

जन-जन के जीवन के सुन्दर
हे चरणों पर
भाव-चरण भर
दूँ तन-मन-धन न्योछावर कर।
दाग़-दग़ा की
आग लगा दी
तुमने जो जन-जन की, भड़की;
करूँ आरती मैं जल-जल कर।
गीत जगा जो
गले लगा लो,
हुआ ग़ैर जो, सहज सगा हो,
करे पार जो है अति दुस्तर।

'३६

१२

उन चरणों में मुझे दो शरण।
इस जीवन को करो हे मरण।
बोलूँ अल्प, न करूँ जल्पना,
सत्य रहे, मिट जाय कल्पना,
मोह-निशा की स्नेह-गोद पर
सोये मेरा भरा जागरण।
आगे-पीछे दाँयें-बाँयें
जो आये थे वे हट जायें,
उठे सृष्टि से दृष्टि, सहज मैं
करूँ लोक-आलोक-सन्तरण।

'३६

सुन्दर हे, सुन्दर !
दर्शन से जीवन पर
बरसे अविनश्वर स्वर।
परसे ज्यों प्राण,
फूट पड़ा सहज गान,
तान-सुरसरिता बही
तुम्हारे मङ्गल-पद छूकर।
उठी है तरङ्ग,
बहा जीवन निस्सङ्ग,
चला तुमसे मिलन को
खिलने को फिर फिर भर भर।

'३६

दलित जन पर करो करुणा।
दीनता पर उतर आये
प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरुणा।
हरे तन-मन प्रीति पावन,
मधुर हो मुख मनोभावन,
सहज चितवन पर तरङ्गित
हो तुम्हारी किरण तरुणा।
देख वैभव न हो नत सिर,
समुद्धत मन सदा हो स्थिर,
पार कर जीवन निरन्तर
रहे बहती भक्ति-वरुणा।

'३६

भाव जो छलके पदों पर,
न हों हलके, न हों नश्वर।
चित्त चिर-निर्मल करे वह,
देह-मन शीतल करे वह,
ताप सब मेरे हरे वह
नहा आई जो सरोवर।
गन्धवह हे, धूप मेरी
हो तुम्हारी प्रिय चितेरी,
आरती की सहज फेरी
रवि, न कम कर दे कहीं कर।

'३६

धूलि में तुम मुझे भर दो।
धूलि-धूसर जो हुए पर
उन्हीं के वर वरण कर दो
दूर हो अभिमान, संशय,
वर्ण-आश्रम-गत महाभय,
जाति-जीवन हो निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो।
फूल जो तुमने खिलाया,
सदल क्षिति में ला मिलाया,
मरण से जीवन दिलाया
सुकर जो वह मुझे वर दो।

'४०

तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर,
जो द्वार-द्वार फिरकर
भीख मागता कर फैलाकर ।

भूख अगर रोटी की ही मिटी,
भूख की ज़मीन न चौरस पिटी,
और चाहता है वह कौर उठाना कोई,
देखो, उसमें उसकी इच्छा कैसे रोई,
द्वार-द्वार फिर कर
भीख मागता कर फैला कर—
तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर ।

देश का, समाज का
कर्णधार हो किसी जहाज़ का,

१८

पार करे कैसा भी सागर,
फिर भी रहता है चलना उसे,
फिर भी रहता है पीछे डर;
चाहता वहाँ जाना वह भी
नहीं चलाना जहाँ जहाज़, नहीं सागर,
नहीं डूबने का भी जहाँ डर।
तुम्हें चाहता है वह, सुन्दर,
जो द्वार-द्वार फिरकर
भीख मांगता कर फैलाकर।

’४०

मैं बैठा था पथ पर,
तुम आये चढ़ रथ पर।

हँसे किरण फूट पड़ी,
टूटी जुड़ गई कड़ी,
भूल गये पहर-घड़ी,
आई इति अथ पर।

उतरे, बढ़ गही बाँह,
पहले की पड़ी छाँह,
शीतल हो गई देह,
बीती अविकथ पर।

'४०

मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।

पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला।

जानता हूँ, नदी-झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख,
कोई नहीं भेला* ।

'४०

* भेला—पुराने ढंग की नाव।

अछूता

मन के तिनके
नहीं जले अब तक भी जिनके,
देखा नहीं उन्होंने अब तक कोना-कोना
अपने जीवन का, दुनिया की चाँदी, सोना,
लाल, जवाहर, हीरे, मोती
छिपे हुए हैं अब तक उनसे, अब तक सोती
जगती भी आकाङ्क्षा उनकी,
अब तक धुन की
नहीं उठी लौ,
उनके आसमान की अब तक नहीं फटी पौ,
नहीं दिखा
उनके जीवन की पुस्तक में है कहाँ क्या लिखा;
मिले तार
उनके औरों से नहीं, नहीं बजती बहार।

'४१

तुम और मैं

झुकता है सर,
दुनिया से मैं धोखा खाकर
गिरता हूँ जब,
मुझे उठा लेते हो तुम तब
ज्यों पानी को किरन, तपाकर।
फिर दुनिया की आँखों से मुझको ओझल कर
रखते आसमान पर,
बादल मुझे बनाते
रंग किरनों से भरते हो सुन्दर;
मुझे उड़ाते रहते हो फिर हवा-हवा पर;
तर सागर-वन
नदी आर्द्र घन

मैं देखता देश-देशान्तर;
तब यह जग आहें भर-भर
कहता है, 'आओ, जलधर !'
गरज-गरज बिजली कड़काकर
(जब कहते हो, जाओ, प्यारे,) .
लाख-लाख बूँदों से मैं टूटता गगन से
जैसे तारे।

मिट जाती है जलन
मगर मैं आ जाता हूँ फिर मिट्टी पर,
पर तुम मुझे उठाते हो फिर
छिपे कली के दिल के अन्दर।
जड़ से चढ़कर,
तने-शाख-डण्ठल से होकर,
रहता हूँ अविकच कलिका के
जीवन में मैं जीवन खोकर।
जब वह खिलती,
आँखें लड़ा-लड़ाकर मिलती,

उसे तोड़कर,
मालिन सुई चलाती है मुँह मोड़ मोड़कर,
मैं ख़ुशबू में उड़ता हूँ तब,
उसी गगन पर, मुक्त-पङ्खभर,
धरा छोड़कर।

१९४०

सन्त कवि रविदासजी के प्रति

ज्ञान के आकर मुनीश्वर थे परम
धर्म के ध्वज, हुए उनमें अन्यतम,
पूज्य अग्रज भक्त कवियों के, प्रखर
कल्पना की किरण नीरज पर सुघर
पड़ी ज्यों अँगड़ाइयाँ लेकर खड़ी
हो गई कविता कि आई शुभ घड़ी
जाति की, देखा सभी ने मीचकर
दृग, तुम्हें श्रद्धा-सलिल से सींचकर।
रानियाँ अवरोध की घेरी हुई
वाणियाँ ज्यों बनीं जब चेरी हुईं।
छुआ पारस भी नहीं तुमने, रहे
कर्म के अभ्यास में, अविरत बहे
ज्ञान-गङ्गा में, समुज्ज्वल चर्मकार,
चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार।

'४२

श्रद्धाञ्जलि

(आचार्य शुक्ल जी के प्रति)

अमा निशा थी समालोचना के अम्बर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।
दीप्ति-द्वितीया हुई लीन खिलने से पहले
किन्तु निशाचर सन्ध्या के अन्तर में दहले।
स्पष्ट तृतीया, खिंची दृष्टि लोगों की सहसा,
छिड़ी सिद्ध साहित्यिक से तुमसे जब वचसा।
मुक्त चतुर्थी, समालोचना वधू ब्याहकर
लाये तुम, पञ्चमी काव्यवाणी अपने घर।
षष्ठी; छः ऐश्वर्य प्रदर्शित कोष प्राण में;
शिक्षण की सप्तमी, महार्णव सप्त ज्ञान में।
दिये अष्टमी आठों वसु टीकाओं में भर,
नवमी शान्ति ग्रहों की, दशमी विजित दिगम्बर।
एकादशी रुद्रता, रामा कला द्वादशी,
त्रयोदशी-प्रदोष-गत चतुर्दशी-रत्न शशी।

१६४१

आदरणीय प्रसादजी के प्रति

हिन्दी के जीवन हे, दूर गगन के द्रुततर
ज्योतिर्मय तारा-से उतरे तुम पृथ्वी पर;
अन्धकार कारा यह, बन्दी हुए मुक्तिधन,
भरने को प्रकाश करने को जनमन चेतन;
जीना सिखलाने को कर्मनिरत जीवन से,
मरना निर्भय मन्दहासमय महामरण से;
लोकसिद्ध व्यवहार ऋद्धि से दिखा गये तुम,
छोड़ा है छिड़ने पर सुघर कलामय कुंकुम;
उठा प्रसङ्ग-प्रसङ्गान्तर रँग-रँग से रँगकर
तुमने बना दिया है वानर को भी सुन्दर;
किया मूक को मुखर, लिया कुछ, दिया अधिकतर,
पिया गरल, पर किया जाति-साहित्य को अमर।
तुम वसन्त-से मृदु, सरसी के सुप्त सलिल पर
मन्द अनिल से उठा गये हो कम्प मनोहर,
कलियों में नर्तन, भौंरों में उन्मद गुञ्जन,
तरुण-तरुणियों में शतविध जीवन-व्रत-भुञ्जन,

स्वप्न एक आँखों में, मन में लक्ष्य एक स्थिर,
पार उतरने की संसृति में एक टेक चिर;
अपनी ही आँखों का तुमने खींचा प्रभात,
अपनी ही नई उतारी सन्ध्या अलस-गात,
तारक-नयनों की अन्धकार-कुन्तला रात
आई, सुरसरि-जल-सिक्त मन्द-मृदु बही बात,
कितनी प्रिय बातों से वे रजनी-दिवस गये कट,
अन्तराल जीवन के कितने रहे, गये हट,
सहज सृजन से भरे लता-द्रुम किसलय-कलि-दल,
जगे जगत के जड़ जल से वासन्तिक उत्पल,
पके खेत लहरे, सोना-ही-सोना चमका,
सुखी हुए सब लोग, देश में जीवन दमका,
हुआ प्रवर्तन, खुली तुम्हारी ही आँखों से
उड़ने लगे विहग ज्यों युवक मुक्त पाँखों से;
खोये हुए राह के, भूले हुए कभी के
बढ़े मुक्ति की ओर भाव पा अपने जी के।
फूटा ग्रीष्म तुम्हारे जीवन का, दिङ्मण्डल

तपा, चली लू, लपटें उठने लगीं, अमङ्गल
फैला, आहों से लोगों की पृथ्वी छाई,
बढ़ा त्रास, फिर अपलापों की बारी आई,
रहित बुद्धि से लोग असंयत हुए अनर्गल,
किन्तु नहीं तुम हिले, तुम्हारे उमड़े बादल,
गरजे सारा गगन घेर बिजली कड़काकर,
काँपे वे कापुरुष सभी अपने अपने घर,
धारा झरझर झरी, घटा फिर फिर घिरआई,
सौ सौ छन्दों में फूटी रागिनी सुहाई
सावन की, निर्बल दबके दल-के-दल वे जन,
अपने घर में करते भला बुरा आलोचन;
भरी तुम्हारी धरा हरित साड़ी पहने ज्यों
युवती देख रही हो नभ को नहीं जहाँ क्यों।

आई शरत तुम्हारी, आयत-पङ्कज-नयना,
हरसिंगार के पहन हार ज्योतिर्मय-अयना;
एक बार फिर से लोगों को सिन्धुस्नान कर
निकला हुआ दिखा काशी में इन्दु मनोहर—

विजय तुम्हारी, लिये हृदय में लाञ्छन सुन्दर
अस्त हो गया कीर्ति तुम्हारी गा अविनश्वर।

हे चतुरङ्ग, तुम्हारी विजयध्वजा धारणकर
खड़े सुमित्रानन्दन, देवी, मोहन, दिनकर,
माखनलाल, नवीन, भगवती, चन्द्र, आरसी,
कमल, प्रभात, सुभद्रा, अञ्चल, अज्ञेयशशी
कितने रवि, केसरी, कुमार, नरेन्द्र, रमा, ये
रामविलास, प्रदीप, जानकीवल्लभ जागे,
भिन्न रूप-रँग के, पर एक लक्ष्य के सत्तम
कितने और तुम्हारी करते पूर्ति मनोरम
गद्य-पद्य की, प्रतिभा को, साहित्य-समर की,
सुमन, विनोद, उग्र, पाठक, बेढब बनारसी,
नन्ददुलारे, चन्द्र प्रकाश कुवँर, शिवमङ्गल,
इलाचन्द्र, बच्चन, हृदयेश, सुमित्रा, निर्मल,
कोकिल, विनयकुमार, श्याम, शाखाल, मञ्जु, छवि
नीलकण्ठ, सर्वदानन्द, गिरिजा, गुलाब कवि,
शिवपूजन, गङ्गाप्रसाद, बलभद्र, अश्क, श्री

लली, उदयशङ्कर, द्विज, मुकुल, अरुण, सावित्री।
यौवन का हेमन्त तुम्हारा भर लहराया
एक छोर से अन्य छोर तक जीवन छाया,
गेहूँ की, अरहर की, जौ की, चने-मटर की
हरियाली-ही-हरियाली फैली, घर-घर की
खेती ज्वार-बाजरे की आई कट-कटकर,
सुखी हुए सब जन अपने अपने सुन्दर घर
खुशियाँ लगे मनाने, हुआ हृदय में निश्चय—
बदले दिन जो रहे हमारे, अब हम निर्भय,—
बढ़े हुए जो, उनकी आँखों पर आँखें रख
बातचीत कर सकते हैं हम, अब कोई पख
लगा नहीं सकता, दीनता हमारी पहली
नहीं रही वह; पुराङ्गनाओं ने हँस कह ली
श्री की कथा, दीप से ज्योतित कर अन्तःपुर,
नम्र देखती मधुर, प्रकाशित करती सी उर
अन्य जनों का, तरुणी पुस्तक पाठ में लगी
आदर करती-सी अतीत का, प्राण में जगी

वर्तमान की ओर बढ़ी।

अपने में निश्चल

युगप्रवर्तक, हुए शीत में व्याधि से विकल,

रहा साथ मैं नतमस्तक, सेवा को; अग्रज,

चले गये तुम धरा छोड़ गौरव-विजय-ध्वज !

१९४०

भगवान बुद्ध के प्रति

आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा; सुख के लिए खिलौने जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन; केवल पैसे
आज लक्ष्य में है मानव के; स्थल-जल-अम्बर
रेल-तार-बिजली-जहाज़ नभयानों से भर
दर्प कर रहे हैं मानव, वर्ग से वर्गगण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण।
हँसते हैं जड़वादग्रस्त, प्रेत ज्यों परस्पर,
विकृत-नयन मुख, कहते हुए, अतीत भयङ्कर
था मानव के लिये, पतित था वहाँ विश्वमन,
अपटु अशिक्षित वन्य हमारे रहे बन्धुगण;
नहीं वहाँ था कहीं आज का मुक्त प्राण यह,
तर्कसिद्ध है, स्वप्न एक है चिनिर्वाण यह।
वहाँ विना कुछ कहे, सत्य-वाणी के मन्दिर,
जैसे उतरे थे तुम, उतर रहे हो फिर फिर

मानव के मन में,—जैसे जीवन में निश्चित
विमख भोग से, राजकुँवर, त्यागकर सर्वस्थित
एक मात्र सत्य के लिये, रूढ़ि से विमुख, रत
कठिन तपस्या में, पहुँचे लक्ष्य को, तथागत !
फूटी ज्योति विश्व में, मानव हुए सम्मिलित,
धीरे धीरे हुए विरोधी भाव तिरोहित;
भिन्न रूप से भिन्न-भिन्न धर्मों में सञ्चित
हुए भाव, मानव न रहे करुणा से वञ्चित;
फूटे शत-शत उत्स सहज मानवता-जल के
यहाँ वहाँ पृथ्वी के सब देशों में छलके;
छल के, बल के पङ्किल भौतिक रूप अदर्शित
हुए तुम्हीं से, हुई तुम्हीं से ज्योति प्रदर्शित।

१६४०

सहस्राब्दि

(विक्रमीय प्रथम १००० सम्वत्)

विक्रम की सहस्राब्दि का स्वर
कर चुका मुखर
विभिन्न रागिनियों से अम्बर।

आ रही याद
वह उज्जयिनी, वह निरवसाद
प्रतिमा, वह इतिवृत्तात्मकथा,
वह आर्यधर्म, वह शिरोधार्य वैदिक समता,
पाटलीपुत्र की बौद्ध श्री का अस्त रूप,
वह हुई और भू—हुए जनों के और भूप,
वह नवरत्नों की प्रभा—सभा के सुदृढ़ स्तम्भ,
वह प्रतिभा से दिङ्नाग-दलन,
लेखन में कालिदास के अमला-कला-कलन,
वह महाकाल के मन्दिर में पूजोपचार,
वह शिप्रावात, प्रिया से प्रिय ज्यों चाटुकार।

३६

आ रही याद
वह विजय शकों से अप्रमाद,
वह महावीर विक्रमादित्य का अभिनन्दन,
वह प्रजाजनों का आवर्तित स्यन्दन-वन्दन,
वे सजी हुई कलशों से अकलुष कामिनियाँ,
करती वर्षित लाजों की अञ्जलि भामिनियाँ,
तोरण-तोरण पर
जीवन को यौवन से भर
उठता सस्वर
मालकौश हर
नश्वरता को नवस्वरता दे करता भास्वर
ताल-ताल पर
नागों का बृंहण, अश्वों की ह्रेषा
भर भर
रथ का घर्घर,
घण्टों की घन-घन
पदातिकों का उन्मद-पद पृथ्वी-मर्दन।

आ रही याद
तूलिका नारियों के चित्रण की निरपवाद,
ब्राह्मण-प्रतिभा का अप्रतिहत गौरव-विकास,
वर्णाश्रम की नव स्फुरित ज्योति, नूतन विलास,
कामिनी-वेश नव, नवल केश, नव-नव कवरी,
नव-नव बन्धन, नव-नव तरंग, नव-नवल तरी,
नव-नव वाहन-विधि, वाहित वनिता-जन नव-नव,
नव-नव चिन्तन, रचना नव-नव, नव-नव उत्सव,
नूतन कटाक्ष, सम्बोधन नूतन उच्चारण,
नूतन प्रियता की प्रियतमता, समता नूतन,
संस्कृति नूतन, वस्तु-वास्तु-कौशल-कला नवल,
विज्ञान-शिल्प-साहित्य सकल नूतन-सम्बल,
पाली के प्रबल पराक्रम को संस्कृत प्रहार,
कालिदास-वररुचि के समलंकृत रुचिर तार ।।

कर रहा मनन
मैं शंकर का उत्थान, बौद्ध-धर्म का पतन—
जन-बल-वर्धन के हेतु वाम-पथ का चालन,—

लोगों में भय का कारण, मारण सम्मोहन,
उच्चाटन, वशीकरण, संकर्षण, संत्रासन,
दिव्य भाव के बदले अदिव्य भाव का ग्रहण,—
फिर बदला ज्यों यह रूप शक्ति के साधन से,
बौद्ध से आर्यरूपता हुई आराधन से,
उस अदिव्यता के अर्थ विरोध कुमारिल का
बौद्धों से हुआ, ताल जो बना एक तिल का,
वे शिष्य हुए शंकर के, शुद्ध भाव भरते,
दिग्विजय-अर्थ भारत में साथ भ्रमण करते।
सुविदित प्रयाग के वे प्रचण्ड पण्डित मण्डन,
वामा थीं जिनकी उभय भारती, आलोचन
शंकर से जिनका कामशास्त्र में हुआ, विजित
शंकर हो शिक्षा लेने को लौटे विचलित,
कर पूर्ण अध्ययन राजदेह में कर प्रवेश
त्यागी शरीर को रख निर्मल, आये अशेष,
व्याध को पिता कह द्रुम-पातन की शिक्षा ली,
चढ़ गये पेड़ पर, बैठे, पढ़ा मन्त्र, डाली
झुककर आई आँगन पर, उतरे, फिर बोले—

"जो हारा पहले से क्यों दरवाज़ा खोले ?"
मध्यस्थ उभयभारती हुई, शास्त्रालोचन
शंकर से हुआ प्रखर जिसमें, हारे मण्डन।
फिर चले छोड़कर गृह त्याग के विजयध्वज से,
मिल गये ज्ञान की आँखों से नभ से – रज से।

आ रहा याद वह वेदों का उद्धार, ख्यात
वह श्रुतिधरता, ज्ञान की शिखा वह अनिर्वात
निष्कम्प, भाष्य प्रस्थानत्रयी पर, संस्थापन
भारत के चारों ओर मठों का, संज्ञापन,
बौद्धों के दल का जीते ही वह दाहकरण,
जलकर तुषाग्नि में अपना प्रायश्चित्त-वरण
शंकर के शिष्यों का। मुझको आ रही याद
वह अस्थिरता जनता के जीवन की, विषाद
वह बढ़ा पण्डितों में जैसे शंकर मत से—
अद्वैत-दार्शनिकता से हुए यथा हत से—
प्रच्छन्न बौद्ध ज्यों कहने लगे, वेदविधि के
कर्मकाण्ड के लोप से दुखी जन वे निधि के

प्रत्याशी, फल के कामी, दुरित-दैन्य दल-मल
चाहते दैव से श्री, शोभा, विभूति, सम्बल।
ऐसे सांसारिक जनों के लिये ज्यों जीवन
आये रामानुज; गृही चरित का आवर्तन
श्री-सुख से भरकर किया भिन्न दर्शन देकर
रक्खा संश्लेष विशिष्ट नाम रखकर सुन्दर।

वैदिक ज्ञान, तथागत का निर्वाण वही,
जो धरा वही विचार धारा की रही मही,
देश काल औ' पात्र के भेद से भिन्न वेद
प्रेम जो, हुआ ज्यों वही बदलकर प्रियच्छेद।
बौद्धों के ही प्रचार का फल मिस्र में फलित—
मूसा की प्रतिभा में बदला वह धर्म कलित,
फिर ईसा में आया कुछ परिवर्तन लेकर,
फिर हुआ महम्मद में अवतरित ताल देकर
एक ही भिन्न राग का प्रबल,
फैला कलकल
ज्यों जलोच्छ्वास प्लावन का दसों दिशाएं भर

भ्रातृभाव का उल्लास प्रखर।
टूटा भारत का वर्ण-धर्म का बाँध प्रथम
इससे, जो सम थे हुए, हुए वे आज विषम
हारे दाहिर, हर गईं कुमारी कन्याएँ।
सूरज-परिमल, कुल की वे उत्कल धन्याएँ।
ले साथ महम्मद-बिन-क़ासिम अरब को चला,
है विदित चुकाया कन्याओं ने ज्यों बदला।

जब टूटा कान्यकुब्ज का वह साम्राज्य विपुल,
छोटे-छोटे राज्यों से हुआ विपत्संकुल
यह देश। उधर अदम्य होकर
बढ़ता ही चला राष्ट्र इस्लामी ; वेग प्रखर
पृथ्वी सँभालने में असमर्थ हुई; निश्चय
दुर्दान्त क्षत्रियों से जो था प्राणों में भय
उन इतर प्रजाओं में, छाया उसका तुषार
जो फुल्ल-कमल-कुल पर आ पड़ा, सहस्रवार
नैसर्गिक अम्बर से ज्यों; ज्यों अधिकारि-भेद
चाहती बदलना प्रकृति यहाँ की, समुच्छेद

कर सकल प्राथमिक नियम, निपुण
चाहती सृष्टि नूतन ज्यों, औरों के गिन गुण
अधिकार चाहती हो देना, सुनकर पुकार
प्राणों की, पावन गूँथ हार
अपना पहनाने को अदृश्य प्रिय को सुन्दर,
ऊँचा करने को अपर राग से गाया स्वर।
१६४२ ई०

उद्‌बोधन

दूर करो भ्रम-भास,
खोलो ये पलकें,
खुला सूर्य, खुला दिगाकाश ।
खुले हुए राजपथ
स्थल-जल-व्योम के,
चलते हैं अविरत
यात्री भी सोम के,
जान ले हथेली में,
धात्री तुम्हारी किन्तु
गाँव की वसुन्धरा
आज भी पहेली में
खड्ढों से भरी हुई
हो रही है प्राणहरा
यदि यान-वाहनों की
मन्द हो रही है चाल,
प्रगति में तुम्हारे यदि

बिछा काँटों का जाल,
उड़ती है सदा धूल,
हिम्मत न हारो तुम,
सुधरेगी यह भूल,
सुथरा होगा यह पथ,
उठेंगे शीघ्रगति
लक्ष्य को पद श्लथ।
नहीं वह तुम्हारी गति
लोभ-लुण्ठन हो जहाँ
नाश जिसकी परिणति,
औद्धत्य यौवन
हो युद्ध की विघोषणा,
हार और मृत्यु के ही
उदर की पोषणा।
कहता है इतिहास,
सत्य-ज्ञान-प्रेम का
तुम्हारा दिया है प्रकाश।

उठी नहीं तलवार
देश की पराजय को,
बहो है सहस्रधार
मुक्ति यहाँ से, क्षय को
मृत्यु के जड़त्व के ;
नहीं यहाँ थे गुलाम,
देश यह वहीं जहाँ
जीते गये क्रोध-काम;
भाव उठा लो वही,
जीवन का वार एक
और सहो तो सही।
सबल यों नीति से,
पढ़ो दान विश्व के
दिये जो ज्ञान-रीति के,
खुले हुए विश्व को
समझो तुम देखकर,
प्रतिमा विशेषकर

ध्यान में समाई हुई—
जैसे आकाश में
सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह
पृथ्वी और जड़-चेतन
बहुरूप रेखाएँ
दिखती हैं, वैसे ही
ज्ञान में
दिखेंगे बीज विश्व के विकास के
ज्ञान-विज्ञान के,
दर्शनेतिहास गत
भिन्न-भिन्न भावों के।
सम्बद्ध क्रियाशील
देखोगे, सलील ही
बदल गये हैं रूप—
भ व, जो तुम्हारे थे,
साथ ही साथ ये
बदले हैं घर-द्वार,

जीवन के अनिवार
नियम से हैं उठे
आलोक-छाया-प्रद,
जीवनद व्यवहार,
बहता चलता हुआ
कलकल ध्वनि कर,
अर्थ परमार्थ से
मिलते खिलते हुए
प्रतिवर्ष के-से फूल,
भिन्न-भिन्न रूप के
कृषि-शिल्प-व्यापार
रक्षण के स्तम्भ-से
खड़े, समारम्भ के
नगर-समाज.शास्त्र,
आज दिव्यास्त्र ज्यों
विश्वमानवता के,
राजनीति-धर्मनीति

वर्जित पाशवता से,

सभी बदले हुए—

सभी भिन्न रूप के,

जर्जरता-स्तूप से

मन्त्र निकले हुए,

साम्य रखते हुए

विश्व के जीवन से;

बदले हुए कुम्हार,

नाई-धोबी-कहार,

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य,

पासी-भङ्गी-चमार,

परिया और कोल-भील;

नहीं आज का यह हिन्दू,

आज का यह मुसलमान,

आज का ईसाई, सिक्ख,

आज का यह मनोभाव,

आज की यह रूपरेखा।

नहीं यह कल्पना,
सत्य है मनुष्य का
मनुष्यत्व के लिये,
बंद हैं जो दल अभी
किरण-सम्पात से
खुल गये वे सभी।
'४१

अखिल-भारतवर्षीय महिला-सम्मेलन की सभानेत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति

जीवन की ज्यों छुटी शक्ति आरक्ति से भरी—
नभश्चुम्बिनी उतरी क्षिति पर किरण की परी,
पार कर रही थीं प्राङ्गण विश्व का अनुर्वर
अर्जित यौवन में मार्जित जीवन भर-भरकर
मुखरा, प्रिय के सङ्ग; तीसरा प्रहर दिवस का;
मरूद्यान में यान तुम्हारा रुका विवश-सा;
उतरीं तुम, सङ्ग-सङ्ग प्रिय, उस रङ्गमञ्च पर
हरित-गुल्म-तरु-लता-लास कलि-हास मनोहर;
बढ़ी देखती पड़ी दृष्टि पाटल पर सुन्दर,
हृत रक्तोत्पल स्थल पर मन्द-गन्ध उन्मदकर;
स्निग्ध शान्त एकान्त; लोक-नयनों से ओझल ;
उत्कल अपने में, केवल नैसर्गिक सम्बल;
तोड़ा तुमने; अधर-स्पर्श से करके व्याकुल
लगा लिया उर में; प्रिय की शुभ दृष्टि गई खुल।

'४२

माननीया
श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति—

से दिन तुमि आमाय डेकेछिले
आमार सङ्गे कथा बोलबे बोले।
भेबेछिलेम, कोनो अछिलाय
पड़िये जाबो एमन विषम दाय।
नाना रकम भेबे गेलेम शेषे,
एले तोमार रूपेर स्रोते भेसे।
चाहनीते किन्तु विषम लागे,
प्राणे आमार दुरु-दुरु जागे।
चरित एकटी धरे बोलले, "कोबलार,
जुतो पालिश करते पारो ?" "पारी"
जेइ बोललेम, बोलले मानिये हार,
"तखन तोमार कलम आमी काड़ी"
कलम थाड़ार भावे। गन्ध छोटे ;
तोमार चोखे-मुखे गोलाप फोटे।
'४२

"माननीया श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति" बंगला-चतुर्दशपदी का अर्थ—

उस रोज़ तुमने मुझे बुलाया था मुझसे बात-चीत करने के लिए। मैंने सोचा था, किसी बहाने यह समस्या बचा जाऊँगा। मगर तरह-तरह की सोचकर अन्त में गया। तुम अपने रूप की तरङ्गों पर तैरती हुई जैसे आईं। लेकिन, तुम्हारी चितवन से, पीते वक्त जैसे पानी लगा। दिल धड़का। मेरे उपन्यास का एक चरित चुनकर तुमने पूछा, "जूतासाज़, पालिश कर सकते हो,"—एक पैर उठाकर जूता दिखाया। "कर सकता हूँ" ज्यों ही मैंने कहा कि तुमने जवाब दिया, "तब मैं तुम्हारी क़लमसाज़ी करूँगी।" साथ ही क़लमसाज़ी की भङ्गिमा दिखाई। ख़ुशबू उड़ी—तुम्हारी आँखों औरं मुख पर गुलाब खिले।—निराला

युग-प्रवर्तिका श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति

दिये व्यंग्य के उत्तर रचनाओं से रचकर,
विदुषी रहीं विदूषक के समक्ष तुम तत्पर;
हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणा-वाणी,
स्फूर्ति-चेतना-रचना की प्रतिमा कल्याणी,
निकला जब 'नीहार' पड़ी चञ्चलता फीकी
खुली 'रश्मि' से मुख की श्री युग की युवती की,
प्रति उर सुरभित हुआ, 'नीरजा' से, निरभ्रनभ
शत-शत स्तुतियों से गूँजा 'यह सौरभ, सौरभ'।
'सान्ध्य गीत' गाते समर्थ कवियों ने सुस्वर,
वीणा पर, वेणु पर, तन्त्र पर और यन्त्र पर।
'यामा'—'दीपशिखा' के विशिखों के ज्यों मारे
अपल-चित्र हो गये लोग, 'चल चित्र' तुम्हारे
चला रहे हैं सहज शृङ्खला की कड़ियों से,
सजो, रँगो लेखनी-तूलिका की छड़ियों से।

'४३

तुम आये,

अमा-निशा थी,

शशधर-से नभ में छाये।

फैली दिङ्मण्डल में चाँदनी,
बँधी ज्योति जितनी थी बाँधनी,
खुली प्रीति, प्राणों से प्राणों में भाये।

करती हैं स्तवन मन्द पवन से
गन्ध-कुसुम-कलिकाएँ भवन से,
किञ्चन के रस-सिञ्चन से तुम लहराये।

आने को भी है फिर प्रात सहज,—
सजने को नवजीवन से रज-रज,
तुमको व्यञ्जित या रञ्जित कर दे जाये।

'४२

स्नेह-निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—"अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पङ्क्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।"

"दिये हैं मैंने जगत को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल ;
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल—
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है।"

अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को, निरुपमा।
बह रही है हृदय पर केवल अमा ;
मैं अलक्षित हूँ, यही
कवि कह गया है।

'४२

द्रुम-दल-शोभी फुल्ल नयन ये,
जीवन के मधु-गन्ध-चयन ये।

रवि के पूरक, रङ्ग रङ्ग के,
छाया-छवि कवि के अनङ्ग के,
स्नेह व्यङ्ग्य के, सङ्ग सङ्ग के,
अङ्ग अङ्ग के शमित शयन ये।

देह-भूमि के सजल श्याम घन,
प्रणय-पवन से ज्योतिर्वर्षण,
उर के उत्पल के हर्षण-क्षण,
आन्दोलन के सृष्ट अयन ये।

प्रेम-पाठ के पृष्ठ उभय ज्यों
खुले भी न अबतलक खुले हों,
नित्य अनित्य हो रहे हैं, यों
विविध-विश्व-दर्शन-प्रणयन ये।

'४२

मत्त हैं जो प्राण,
जानते हैं कब किसी का मान ?

बेलि विष की फैलकर जो खिल गई,
गन्ध जिसकी हवा के उर मिल गई,
वह बिना समझे हृदय में हिल गई,
कर गई अपमान।

राह चलते लगेंगे काँटे, सही,
धूल में उनको मिलाएगी मही,
डाल की वह बात हटकर ही रही,
फिर कहाँ उत्थान ?

है व्यथा में स्नेह निर्भर जो, सुखी;
जो नहीं कुछ चाहता, सच्चा दुखी;
एक पथ ज्यों जगत में, है बहुमुखी,
सर्वदिक् प्रस्थान।

मरण को जिसने वरा है
उसी ने जीवन भरा है।
परा भी उसकी, उसीके
अङ्क सत्य यशोधरा है।

सुकृत के जल से विसिञ्चित
कल्प-किञ्चित विश्व-उपवन,
उसीकी निस्तन्द्र चितवन
चयन करने को हरा है।

गिरिपताक उपत्यका पर
हरित तृण से घिरी तन्वी
जो खड़ी है वह उसी की
पुष्पभरणा अप्सरा है।

जब हुआ वञ्चित जगत में
स्नेह से, आमर्ष के क्षण,
स्पर्श देती है किरण जो,
उसी की कोमलकरा है।

'४२

गया अँधेरा

देख, हृदय, हुआ है सबेरा।

चलना है बहुत दूर रे,

नहीं वहाँ परी, नहीं हूर,

मूसा का जैसा, कुछ देने के लिए है.

निर्जीवन जीवदहन तूर ;

और कहीं डाल अपना डेरा—

गया अँधेरा !

कोई नहीं पूछता, न पूछे,

भरे रह गये हैं वे, इसलिए

तेरी नज़रों में हैं छूँछे :

ढलकाता चल उनका जल रे,

भर जैसे मिलना है तेरा—

गया अँधेरा !

'४३

तुम*

दिया जीवन, तुम्हारा ही दिया यह दुःख दारुणदव,
दिया अन्तःकरण बैठे जहाँ करते तुम्हीं अनुभव ।

तुम्हारे ही नयन ये हैं सलिल-सरिता बही जिनसे,
विकलता भी तुम्हारी है, तुम्हारा है करुण हा रव ।

तुम्हारी दी हुई निधि वह, तुम्हारी ही ग्रहण-विधि वह
तुम्हीं अनमन विजन वन में बहाते शान्ति शुचि सौरभ

तुम्हारा मैं तुम्हारा तन तुम्हारा ही विपुल धनजन
समझकर भी न समझा मन, मिटाओ मोह-घन गौरव

* अनुवाद १९२२

स्नेह-मन तुम्हारे नयन बसे,
जीवन-यौवन के पाश कसे।

पल्लवित प्रणय के, निरावरण,
खिल गये लता-द्रुम नभस्तरण,
चुम्बित समीर-कुङ्कुम क्षण-क्षण,
सिहरे, बिहरे; फिर हँसे, फँसे।

रंग गया प्रेम का अन्तराल,
खुल गया हेम का जगज्जाल,
तुल गई किरण, धुल गई झाल,
जीवन-सकाल से सकल गसे।

'४३

जननि, मोहमयी तमिस्रा दूर मेरी हो गई है।
विश्व-जीवन की विविधता एकता में खो गई है।

देखता हूँ यहाँ, काले-लाल-पीले-श्वेत जन में
शान्ति की रेखा खिंची है, क्रान्ति कृष्णा सो गई है।

जग रहे हैं वे जगत् में जो तुम्हारी गोद में हैं,
दृष्टि में उनकी अपरिचयता पराई सो गई है।

काम आये हैं, बने हैं जो किसी के भी बनाये,
बीज पानी में, जवानी में, सुखाशा बो गई है।

चाल उलटी फिर उलटती है यही है सत्य जग का;
देखता हूँ, पल्लवों की धूल वर्षा धो गई है।

'४२

यह है बाज़ार।
सौदा करते हैं सब यार।

धूप बहुत तेज़ थी, फिर भी जाना था,
दुखिये को सुखिया के लिए तेल लाना था,
बनिये से गुड़ का रुपया पिछला पाना था,
चलने को हुआ जैसे बड़ा समझदार।
सुखिया बोली अपनी सास को सुनाकर यों,
"मास के पैसे शायद अब तक भी बाक़ी हों,
अच्छा है अगर करें पूरी धेली ज्यों-त्यों,
टूटा रुपया ख़र्च होते लगेगी न बार।
दुखिया बोला मन में, "ठहर अरी सास की,
मास खिलाता हूँ मैं तुझे, अभी रास की
चोरी है याद मुझे, बात कौन घास की
बैठाली क्या जाने ब्याही का प्यार ?"
मगर निकलकर घर से तेज़ क़दम बढ़ा चला,
पिछली बातों का अगली बातों ने घोंटा गला,
दुखिया ने सोचा, "इसके पीछे बिना पड़े भला,
बैठा ले दूसरा तो सिंह से हूँ स्यार।"

'४२

तुम्हीं हो शक्ति समुदय की,
तुम्हीं अनुरक्ति संचय की।

तुम्हारी दृष्टि ही है—
ज्ञान से जड़ का हुआ सागर,
मथा फिर देव - असुरों ने
समझकर रत्न का आकर,
पिया विष विष्णु के ही अर्थ
शंकर ने अमरता - भर,
जहाँ से आय है निश्चित
जहाँ से बुद्धि है व्यय की।

कथा के स्रोत का उत्थान
तुमसे है, पतन तुमसे;
विषय-स्पष्टीकरण तुमसे,
प्रलम्बित आहरण तुमसे;
तरङ्गों का विताड़ित भाव,
अर्थ - न्यास - घन तुमसे,
मिलन तुमसे, विरह तुमसे,
व्यथा उत्थान की, लय की।

’४२

गहन है यह अन्ध कारा;
स्वार्थ के अवगुण्ठनों से
हुआ है लुण्ठन हमारा।

खड़ी है दीवार जड़ की घेरकर,
बोलते हैं लोग ज्यों मुँह फेरकर,
इस गगन में नहीं दिनकर,
नहीं शशधर, नहीं तारा।

कल्पना का ही अपार समुद्र यह,
गरजता है घेरकर तनु, रुद्र यह,
कुछ नहीं आता समझ में,
कहाँ है श्यामल किनारा।

प्रिय, मुझे वह चेतना दो देह की,
याद जिससे रहे वञ्चित गेह की,
खोजता-फिरता, न पाता हुआ,
मेरा हृदय हारा।

घेर लिया जीवों को जीवन के पाश ने ;
बाँधा सुन्दर को तब नर के विश्वास ने ।

ज्योति अगर अम्बर से विच्युत कर दी गई,
तो न रही ज्योति, हुई वह अलक्ष्यता नई,
मुक्ति उसे कह सकते हैं ; प्रभेद हैं कई ;
किन्तु सदा बाँधा है ईश्वर को दास ने ।
लोगबाग चलते फिरते हैं, यह सही है ;
उठे पैर को लगनी आड़ एक रही है ;
सब कुछ टेढ़ा है जैसे सरिता बही है,
सीधा है जैसे खोला गुल को वास ने ।
बाँकी भौंहें ही सुन्दर हैं, यह कहते हैं,
बाँकी चितवन से ही नयन फँसे रहते हैं,
बड़े लड़ाके बाँके ही मारें सहते हैं,
पार किया है तम से प्रभा के विनाश ने ।

'४२

भारत ही जीवन - धन,
ज्योतिर्मय परम - रमण,
सर - सरिता वन - उपवन।

तपः - पुञ्ज गिरि - कन्दर,
निर्झर के स्वर पुष्कर,
दिक्प्रान्तर मर्म - मुखर,
मानव मानव - जीवन।

धौत - धवल ऋतु के पल,
सञ्चारण चरण चपल,
कारण - वारण, वल्कल-
धारण, सुकृतोच्चारण।

नहीं कहीं जाड़ - जघन्य,
नहीं कहीं अहम्मन्य,
नहीं कहीं स्तन्य - वन्य,
चिन्मय केवल चिन्तन।

’४२

स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज

आमों की मञ्जरी पर
उतर चुका है वसन्त,
मञ्जु-गुञ्ज भौंरों की
बौरों से आती हुई,
शीत-वायु ढो रही है
मन्द-गन्ध रह-रहकर।
नारियल फले हुए,
पुष्करिणी के किनारे
दोहरी क़तारों में
श्रेणीबद्ध लगे हुए।
भरा हुआ है तालाब,
खेलती हैं मछलियाँ,
पानी की सितह पर
पूँछ पलटती हुई।
वहीं गन्धराज, बकुल,
बेला, जुही, हरसिंगार,

केतकी, कनेर, कुन्द,
चम्पा लगे हुए हैं—
पूजा के उपचार,
ऋतु-ऋतु में खिलते हुए।
अमरूद, जामुन, अनार, लीची, फालसे,
कटहल लगे हुए।
कोनों में बाँसों के झाड़, कहीं कहीं इमली,
इङ्गुदी, कपास, नीम,
मध्यवित्त गृहियों के वासगृहों के पीछे।
सामने है पूजागृह—
भिन्न वासगृह से,
स्वच्छ स्निग्ध गन्ध से मोदित करता हुआ।
ब्राह्मण का शोभन गृह।
अन्य ओर धान का गोला, पुष्करिणी कल
एक ओर, बीचों बीच, और स्वच्छ जलवाली,
हल्की-सजी हुई ; बँधा हुआ घाट सुघर।
यहाँ लगे हैं गुलाब, नारियल वैसे ही,
नहीं बाँस या इमली।

सुन्दर-सी बैठक में
गृहस्वामी बैठे हुए।
बालकों का कलरव
गूँजता हुआ अबाध।
बेर के, खजूर के,
आम और जामुन के नीचे, पकते समय,
महाभारत मचा हुआ।
दूर-दूर पास-पास गाँव के आवास हैं
ऊँचे भूखण्डों पर।
नीची-नीची ज़मीं में,
जमता है जहाँ पानी,
धान कट चुके हैं अगहन के, देर हुई,
किन्तु वैसी ज़मीं में अभी तक कुछ नमी है।
गृहस्वामी परमहंस-देव जी के भक्त हैं।
युवक-समाज बड़े चाव से पढ़ता है
स्वामी विवेकानन्द जी के लिखे हुए ग्रन्थ।
शोधन भी चाहता है करना चरित्र का
उनके प्रभाव से,

जैसे मधु-ऋतु से तरु।
ग्रामीण जनों में निश्चय बँध चुका है।
स्वामी प्रेमानन्दजी, शिष्य रामकृष्ण के,
उत्सव में आयेंगे। भेजा गया भक्त एक
स्वामी जी को लेने को, युवक एक पश्चिम के
प्रान्त का, जिसके पिता
वङ्गदेश गये थे,
फिर वहीं
बसे थे। तरुण वह
ले आया स्वामी को
जैसे भास को प्रभात।
साथ ब्रह्मचारी थे,
आत्मा की खोज और
लोगों की सेवा के लिए
गये हुए थे जो वहाँ।
पूर्णिमा के चन्द्र को
देखकर चढ़ा हुआ
सागर समुदाय था

स्वामी जी के दर्शनों से।
पीटकर बराबर एक खेत कर दिया गया,
बड़ा शामियाना तना।
तोरण बनाये गये।
द्वारों पर दोनों ओर
कलस रखे गये
जलपूर्ण, सेंदुर से
स्वस्तिका खींच कर,
आम्र-पल्लव, धान-भरी
परई, कच्चा छोटा
नारियल रखकर।
मञ्च सजा पुष्प और पल्लवों का शोभापूर्ण।
चित्र रामकृष्ण का
रक्खा गया तख़्त पर
फूलों से आच्छादित।
रँगे हुए काग़ज़ों की ज़ञ्जीरें डाली गईं।
'स्वागत' प्रवेश-द्वार पर लगा हुआ विशाल।
बाल-वृद्ध-युवा-नर-नारी आते जाते हुए।

कीर्त्तन होता रहा
खोल-करताल पर।
खिचड़ी, भाजियाँ कई,
मिष्टान्न, परिवेश
किया गया दीन नारायणों के अभ्यर्थन में।
अन्य जन बैठते थे
प्रत्याशी प्रसाद के,
साथ, एक पंक्ति में।
कितनी पंक्तियाँ हुईं।
आमन्त्रित थे सभी
धनी मानी, नगर के
राजकर्मचारि वर्ग,
जीवन की पुष्टि और
आध्यात्मिक धारणा के लिए आये हुए थे;
भक्ति के प्रतिरूप,
पवन ज्यों मुक्त हों
भली-बुरी गन्ध से।
घेरकर आत्मा को

खड़े थे देह जैसे।
मञ्च के सामने।
कीर्त्तन होता रहा
गायकों का, भक्तों का।
बजते हुए मृदङ्ग,
करताल, चक्राकार
भक्तजन परिक्रमा करते हुए बार बार।
उत्सव समाप्त हुआ।
स्वामी को बुलाकर
श्रेष्ठ राजकर्मचारी
ले आये उपवन के अपने भवन में।
रक्खा समादर से।
पूजानुष्ठान हुआ।
पश्चिमीय तरुण ने
श्रीसुतीक्ष्ण की कथा
रामचरितमानस से
पढ़ी मधुर कण्ठ से
वन्दन रघुनन्दन का

भक्ति से ओतप्रोत ।
सभ्य जन आँसू बहाते हुए सुनते रहे ।
स्वामीजी ध्यानमग्न,
स्वर के स्तर से चढ़कर
सहस्रार में गये ।
लोकोत्तरानन्द तभी सबकी समझ में आया ।
कथा परि समाप्त हुई ।
गृहस्वामी भोजन का
आयोजन करने लगे ।
पत्तलें पड़ीं नई ।
आसन बिछाये गये,
जल-पात्र रक्खे गये ।
घृतपक्व गन्ध से
महकने लगा गृह ।
दूर आवास तक
हवा ख़बर भेजती है ।
आमन्त्रित हैं सभी
राजकर्मचारिवर्ग ।

आवाहन होने पर
स्वामी उठकर चले।
क्षालित हुए उनके पद,
हाथ-मुँह धुलाकर
आसन दिखाया गया,
सब से अधिक मर्यादित।
उनके बैठने ही पर
बैठे आमन्त्रित जन,
एक ही पंक्ति में
ब्राह्मण-कायस्थ सब।
श्रेष्ठ राजकर्मचारी
जाति के कायस्थ थे।
स्वामी जी का पूर्वाश्रम कायस्थ कुल में था
जैसे विवेकानन्द जी का।
राजकर्मचारी को गर्व इससे हुआ।
खुलकर वह बोले भी—
"एक दिन ब्राह्मणों ने
हमें पतित किया था—

शूद्र कहलाये हम,
किन्तु श्रीविवेक और
आप-ऐसे कृतियों ने
धन्य हमें कर दिया।
ब्राह्मणों की ही तरह
हम भी सिर उठाकर
रहते हैं समाज में,
एक ही फल के भागी—
भोगी स्वाच्छन्द्य के।"
स्वामीजी मौन थे
स्तुति को दबाते हुए
जो थी एकाङ्गिणी।
सजग हुये ब्रह्मवर्ग,
स्पर्धा से उद्धत-सिर,
देखते ही स्वामीजी
समझे वह मनोभाव
क्षोभ भरनेवाला,
बोले स्नेह-कण्ठ से—

"संन्यासी होने पर
देश-काल-पात्रता से
दूर हम हुए हैं,
रामकृष्णमय जीवन,
सर्व जनों के लिए।
ब्राह्मण के गृह जिनका
शुभ जन्म हुआ था,
उनके दर्शनों को
हम या विवेकानन्द
नहीं गये थे वहाँ;
जो थे परमात्मलीन
त्यागी-योगी सिद्धेश्वर,
उन्हीं प्रवर से सीखें
ली हैं हम लोगों ने
विगत जाति-कुल से।"
यद्यपि उन मधुपुष्प शब्दों पर बैठकर
शान्त हुए द्विज-भ्रमर,
फिर भी बर्र जैसे एक गूँजते ही रह गये—

राजा हैं ब्राह्मण, मैं
ब्राह्मण-विद्वेष की कथा उनसे कहूँगा.
उन्हीं के साथ यह श्रेष्ठ राजकर्मचारी
बैठकर जेयेंगे—
देखेंगे हमलोग।"
कहकर वह उठने लगे।
एक दूसरे ने कहा,
"रसगुल्ले आ रहे हैं,
अभी कहाँ जाते हैं ?
कटु हुई है जिह्वा, मीठी कर लीजिए।"
वह पश्चिमीय भी बैठा था चुपचाप।
उठने को काँप कर बैठे रहे द्विजदेव।
भोजन अधूरा ही छोड़कर स्वामी जी
उठ कर खड़े हुए।
बढ़ते हुए कहा यह, "होगा हमारा भी कोई
अपना समझदार, समझायेगा वही
ऐसे विद्वानों को।"
द्विज भी खड़े हुए,

पश्चिमीय की तरफ़ उँगली उठाई, कहा,
"ऐसा भी आदमी पंक्ति में बैठाला गया
जिसके माँ-बाप का पता आज तक न लगा,
घोर कलिकाल है !"
स्वामी जी ने कहा,
"ऐसे कलिकाल में
रामकृष्ण आये हैं, स्वामी श्री विवेकानन्द
ऐसे ही जनों के परमबन्धु हो गये।
पता उन्हीं का रहा, कुछ पता नहीं था जिनका,
म्लेच्छ और दुराचारी जो लोग कहलाते रहे।"
राजकर्मचारी ने
हाथ जोड़कर कहा,
"आपके बैठे बिना
लोग उठ जायँगे,
यज्ञ अधूरा होगा।"
स्वामी जी ने कहा, "इसी युवक को पहले
लाकर परोसो अन्न-मिष्टान्न जो कुछ हो
भोजन-समाप्ति का,

यहीं से प्रारम्भ इस भोजन का होता है,
पायेंगे प्रसाद सभी।"
मेघमन्द्र कण्ठ से स्तम्भित सब हो गये।
बैठ गये स्वामी जी।
मिष्टान्न लाया गया,
पहले परोसा गया युवक को विनय से।
दबे हुए चुपचाप
समय के प्रभाव से
आमन्त्रित बैठे रहे,
मिष्टान्न खाया स्वाद साधुता का लेते हुए।
खुल गये प्राण सब,
गगन में जैसे तारे
चमके आमन्त्रित जन।
साधुभोज पूर्ण हुआ।
प्रातःकाल सभा हुई।
स्थानीय जन समवेत हुए प्रेम से
रामकृष्ण और श्रीविवेकानन्द की बातें
स्वामी प्रेमानन्दजी के मुख से सुनने के लिए।

राजकर्मचारीजी सबसे विद्वान थे—
आदरणीय, राज्य के प्रधानामात्य-पद पर ;
उन्हीं ने सभापति का आसन सुशोभित किया।
बगल में श्रीस्वामीजी की कुरसी रक्खी गई।
समागत सभ्य विद्वानों के व्याख्यान हुए
श्रीमद्रामकृष्ण परमहंस देव पर, कोई
स्वामी श्रीविवेकानन्द जी के विषय पर बोले,
आधुनिक धर्म, त्याग,
जाति का उत्थान, प्रेम,
सेवा, देश-नायकता,
भारत और विश्व जैसी गहन समस्या लेकर।
एक ब्रह्मचारी ने
स्वामी श्रीविवेकानन्दजी की 'वीरवाणी' से
'सखा के प्रति' विशिष्ट पद्य की आवृत्ति की।
स्वामीजी से बोलने के लिए प्रार्थना हुई।
जनता उदग्रीव देखती थी वह पवित्र मुख।
स्वामीजी खड़े हुए,
कहा, "हम सेवक हैं,

आप लोग आमुख हैं सब विद्या के,
बोलेंगे ; हममें जो श्रेष्ठ श्रुतिधर थे—विवेकानन्द
जानता है विश्व उन्हें—
जनता के अर्थ वे
सब कुछ कह गये हैं,
सिर्फ़ काम करना है ;
फिर भी हम बोलते हैं लोगों के आग्रह से
सांसारिक धर्म पर
सर्वश्रेष्ठ जो है जैसा ऋषिमुनियों ने कहा है।
एक दिन विष्णुजी के पास गये नारद जी,
पूछा, मर्त्यलोक में वह कौन है पुण्यश्लोक
भक्त तुम्हारा प्रधान ?
विष्णुजी ने कहा, 'एक सज्जन किसान है,
प्राणों से प्रियतम।'
नारद ने कहा, 'मैं
उसकी परीक्षा लूँगा।' हँसे विष्णु—सुनकर यह,
कहा कि ले सकते हो।
नारद जी चल दिये,

पहुँचे भक्त के यहाँ,
देखा हल जोत कर आया वह दुपहर को ;
दरवाज़े पहुँचकर रामजी का नाम लिया ;
स्नान-भोजन करके
फिर चला गया काम पर ।
शाम को आया दरवाज़े, फिर नाम लिया
प्रातःकाल चलते समय
एक बार फिर उसने
मधुर नाम स्मरण किया ।
बस केवल तीन बार ;
नारद चकरा गये ।—
दिवारात्र जपते हैं नाम ऋषि-मुनिलोग
किन्तु भगवान को किसान ही यह याद आया ।
गये वह विष्णुलोक,
बोले भगवान से,
देखा किसान को,
दिन भर में तीन बार
नाम उसने लिया है ।'

बोले विष्णु, 'नारद जी,
आवश्यक दूसरा
काम एक आया है,
तुम्हें छोड़कर कोई
और नहीं कर सकता।
साधारण विषय यह।
बाद को विवाद होगा;
तब तक यह आवश्यक कार्य पूरा कीजिए।
तैल-पूर्ण पात्र यह,
लेकर प्रदक्षिण कर आइए भूमण्डल को;
ध्यान रहे सविशेष,
एक बूँद भी इससे
तेल न गिरने पाये।'
लेकर चले नारदजी,
आज्ञा पर धृतलक्ष्य—
एक बूँद तेल उस पात्र से गिरे नहीं।
योगिराज जल्द ही
विश्व-पर्यटन करके

लौटे वैकुण्ठ को,
तेल एक बूँद भी उस पात्र से गिरा नहीं।
उल्लास मन में भरा था
यह सोच कर, तैल का रहस्य एक
अवगत होगा नया।'
नारद को देखकर
विष्णु भगवान ने
बैठाला स्नेह से,
कहा, 'यह उत्तर तुम्हारा यहाँ आ गया।
बतलाओ, पात्र लेकर जाते समय कितने बार
नाम इष्ट का लिया ?'
'एक बार भी नहीं',
शङ्कित हृदय से कहा नारद ने विष्णु से,
'काम तुम्हारा ही था,
ध्यान उसी से लगा,
नाम फिर क्या लेता और ?'
विष्णु ने कहा, 'नारद',
'उस किसान का भी काम

मेरा दिया हुआ है,
उत्तरदायित्व कई लादे हैं एक साथ,
सबको निभाता और
काम करता हुआ
नाम भी वह लेता है,
इसी से है प्रियतम।'
नारद लज्जित हुए,
कहा, यह सत्य है।"
व्याख्यान पूरा हुआ,
स्वामीजी बैठे, स्तब्ध
सभा रञ्जित हुई,
धार्मिक आभास मिला।
स्वामीजी ने कहा चीफ़ मैनेजर साहब से,
'कोई दर्शनीय स्थान हो तो हमें दिखा दो।'
'राजा के गढ़ के मध्य
मन्दिर है कृष्णजी का,
बहुत ही सुन्दर स्थल,
सन्ध्या की आरती के समय साथ चलेंगे,'

मैनेजर ने कहा,
'यों तो प्रासाद तथा और और दृश्य हैं,
किन्तु व्यर्थ आपके लिए है यह देखना।
स्नान, ध्यान, भोजन, आराम के अनन्तर
सब लोग तैयार हुए
कृष्णजी के दर्शन को,
राजगढ़ के अभ्यन्तर।
स्वामीजी, तीन ब्रह्मचारी, मैनेजर साहब
चले, पश्चिमीय वह युवक भी साथ हुआ।
तीन मील घेर कर गहरी एक नहर सी
परिखा है चारों ओर से गढ़ को डालकर
अपने में वेष्टनी-सी।
पश्चिम में सिंहद्वार,
परिखा के पुल के बाद।
सीधा रास्ता गया। दोनों ओर बड़े बड़े
स्वच्छ जलाशय हैं।
समतल किये हुए
सरोवर-तटोद्यान के। दूब जमाई हुई।

थालियाँ ऋतुपुष्पों की, लाल पीले नीले ज़र्द
मिश्र रंगों की बहार तृप्त करतीं हुई नयन,
बेंचें पड़ी हुई,
सरोवर-जल-स्पृष्ट हवा स्निग्ध आती हुई,
रास्ते के दोनों ओर वटम-पाम की क़तारें,
दोनों ओर सरोवर, काफ़ी भूमि छोड़कर,
दो-दो, चार ; दाईं ओर मध्य से गई है राह
कृष्णजी के मन्दिर को, बीच से दो सरों के।
हरियाली दूब की, जल की लघु नीलिमा,
वटम-पामों की छाया छत्राकृति दूर तक,
ऋतुपुष्पों की शोभा, देवदार, हींग और
इलायची-अशोक जैसे
क़ीमती वृक्षों की छटा
मुग्ध कर लेती है मन को क्षण मात्र में
जल की लहरियों से खेलता है समीरण।
एक राह और राज-भवन से गई हुई।
बीच में, तालाबों के ख़त्म होते एक ओर
ड्योढ़ी पड़ती है बड़ी,

वाद को प्रासाद है,—
ड्योढ़ी से दिखता हुआ,
शोभन विशालकाय,
उद्यानों में बना,
चीफ़ मैनेजर साहब उसीसे लेकर चले।
ड्योढ़ी पर सन्तरी खड़ा हुआ,
सिंहद्वार पर जैसा,
जिसको ये पारकर यहाँ आकर पहुँचे हैं,
राजप्रासाद का सन्तरी दिख रहा है
दीर्घ इस ड्योढ़ी के बहुत ऊँचे फाटक से ;
सङ्गमारबर के सोपान उसके प्रायः बीस,
बहुत लम्बे-लम्बे, एक-मंज़िले तक ऊँचा-चढ़े ;
दोनों ओर तोपें लगीं, बैठे, सिंह भीमकाय
सोने के पानी के चढ़े, दोनों ओर पत्थरों पर ;
दोनों ओर बटम पाम, एक एक, बड़े बड़े ;
खुला बड़ा बरामदा, संग-मारबर और
संग मूसे का बना, पत्थर चौकोर क्रम
क्रम से लगे हुए,

ऊँची ऊँची रेलिङ्ग और बड़े बड़े दरवाज़े

दुहरे; एक, शीशे का ; भवन विशालकाय ;

मन्द पवन बहता हुआ ;

रातरानी की सुगन्ध आती हुई भीनी भीनी।

सन्तरी ने चीफ़ मैनेजर को सलाम किया

और विनय से कहा,

"महाराज का है हुक्म,

आप ही अकेले इस मार्ग से जा सकते हैं ;

दूसरों के लिए जब तक

कोई हुक्म नहीं होगा,

छोड़ नहीं सकता मैं।

दूसरों के लिए मार्ग उधर से है जाने का।"

अब तक वह ब्राह्मण

जो भोज में गरमाये थे,

बाहर आये, कहा,

"महाराज उतर आये हैं,

इतना सम्मान परमहंस देवजी के लिए

उनके हृदय में है,

लेकिन अपमानकारी इन स्वामीजी के लिए
जो कि उस आश्रम के
एक कायस्थ हैं,
उचित व्यवस्था वह मन्दिर में करेंगे
दर्शन दिलाते समय।"
एक साधारण कर्मचारी की बात सुनकर
मैनेजर साहब सन्नाटे में आ गये,
कहा, "यह आये हैं
इतना ही बहुत है,
और तुम्हें कौन समझायेगा यह कौन हैं,
कौन हैं विवेकानन्द।"
सम्वाददाता ने कहा,
"महाराज का कहना जैसा था, मैंने किया,
आप जैसा कहेंगे,
चल कर उनसे कहूँगा;
फिर उत्तर ला दूँगा।
खड़े रहिए ज़रा देर,
क्योंकि वह खड़े हैं।"

कहकर चले गये,
कुछ देर बाद आये,
कहा, "महाराज की
आज्ञा नहीं ली गई ;
आपको मालूम है,
सिंहद्वार से इधर
कोई अजनबी कभी
पैर नहीं रख सकता ;
आप यहाँ आ गये,
फिर भी खामोश हैं,
राजा के सिपाही लोग।"
इससे बड़ा अपमान
दूसरा नहीं होता।
जैसे शिव गरल को
पीकर, स्वामीजी बोले
"देव-दर्शन के लिए
हुक्म लिया जाता है ;
हमें नहीं ज्ञात था।"

ब्रह्मदेव ने कहा,
"देवता राजा के हैं, नहीं किसी प्रजा के।"
तमतमा उठे स्वामी,
किन्तु धैर्य से रहे, पूरी बात सुनने को।
ब्राह्मणजी कहते गये,
"चीफ़ मैनेजर साहब,
राजा यहाँ वही हैं
जिनके दर्शन के लिए जा रहे हैं आप लोग;
यह तो बतलाएँ, अपमान किसका किया था?"
मैनेजर स्वामीजी को बात समझाने लगे—
"कृष्णजी ही राज्य के राजा कहे जाते हैं
मुहर में उन्हीं की छाप चलती है यहाँ,
उत्तराधिकारी ये लोग कहे जाते हैं।"
स्वामीजी मुस्कराये,
सीधे स्वर से कहा,
"क्या वह भी ब्राह्मण थे,
जिसका इन्हें गर्व था।"
झेंप गये ब्रह्मदेव,

कहा, "महाराज ने और यह कहा है—
नंगेपन के उत्तर में अपने गुरुदेव को
नंगे बाबाजी को हम पेश यहाँ करते हैं।
स्वामीजी ने कहा,
"परमहंसदेव भी नंगे हो जाते थे।
गुरु सब एक हैं,
साधु अपमान नहीं करता, सह लेता है।"
चीफ़-मैनेजर को गहरा धक्का लगा।
ब्रह्मदेव कहने लगे—
"आप हैं सर्वश्रेष्ठ राजकर्मचारी, तभी
हल्की-हल्की सज़ा का विधान किया गया है
आप हों या स्वामीजी, एक ही महज्जन
इस मार्ग से जायँगे, अन्य जन घूमकर।
पश्चिमीय के लिए सदा का निषेध रहा
मन्दिर-प्रवेश में।"
काँप उठे स्वामीजी,
"इसलिए नहीं आये"
कहा, "कभी दर्शन भी

किये नहीं जैसे, हम
साधु हैं।" शरीर से
ज्वाला सी निकली, ज्यों
ग्रास ही कर जाने को,
ब्रह्मदेव तड़ित से स्तम्भित से हो गये
देखा, श्रीकृष्णजी स्वामीजी में आ गये
ब्राह्मण को अपने नेत्रों पर हुआ अविश्वास।
रगड़कर फिर से देखा, कृष्णजी की नीलकान्ति
ज्योतिर्मयी घनीभूत स्वामीजी की देह में।
आनन्द के परमाणुओं का फ़व्वारा छुटा।
जितने जन थे जैसे उमड़े आनन्द हों।
देखा ब्रह्मदेव ने, ज्योति की सी रेखा से
स्वामीजी के साथ पश्चिमीय का शरीर बँधा
पागलसा हुआ वह भागा यह कहता हुआ।
"वाह वाह, ऐसा अच्छा आजतक नहीं देखा।"
कहता दौड़ता हुआ राजा के समीप गया
सुनते ही महाराज अभिभूत हो गये।
फिर भेजा ब्राह्मण को

सादर ले चलने के लिए कृष्ण-मन्दिर में
उसी राह स्वामी को ।
स्वामीजी ने कहा,
"साधारण के ही हैं हम
घूमकर जायँगे,
हमें यही ख़ुशी है ।"
अस्तु घूमकर गये ।
दोनों ओर नौबतख़ाने ।
चत्वर संगमारवर का ।
दोनों ओर दिव्य मन्दिर ।
सामने विशालकाय मन्दिर में कृष्णजी
स्वर्ण-भूषणों से सजे ।
देखकर द्वारकाधीश कृष्ण याद आ गये ।
पश्चिमीय जन वह मन्दिर के बाहर रहा ।
स्वामीजी ने चलते समय कहा कि मैं वहीं हूँ
बाहर खड़ा है जो ।"
लौटे जब स्वामीजी
साथ युवक हो गया मन्त्र-मुग्ध प्रेम से ।
वासना से मुह फेरा, सदा को चला गया ।
'४२

नाम था प्रभात ज्ञान का साथी,
एक पाठशाले में पढ़ा हुआ,
बातचीत करना था हँस हँस कर,
बढ़ा मेलजोल में कढ़ा हुआ,
गोरा छरहरा बदन, बड़ी फाँकें
आँखें, पलकों से उभारती चितवन ;
राह बचाता चला, गठी फिर भी
चढ़ी, हो गई उछाह से अनबन ;
खेलता खाता हुआ वह पल रहा था,
कभी दिल को नहीं लगी चोट सख़्त,
कहा, "ज्ञान, तेरा साथ मिलने पर,
नहीं चाहिए कुछ भी, किसी वक़्त।"
कहा ज्ञान ने, "फिर तू कैसा प्रभात,
अगर हटाई न हटी वैसी रात ?"
'४३

मेरे घर के पच्छिम ओर रहती है
बड़ी-बड़ी आँखों वाली वह युवती,
सारी कथा खुल-खुलकर कहती है
चितवन उसकी और चाल-ढाल उसकी।
पैदा हुई है ग़रीब के घर, पर
कोई जैसे ज़ेवरों से सजता हो,
उभरते जोबन की मीड़ खाता हुआ
राग साज़ पर जैसे बजता हो।
आसमां को छूती हुई वह आवाज़
दिल के तार-तार से मिलाई हुई,
चढ़ाती है गिरने का जहाँ नहीं डर
कली की सुगन्ध जैसे छाई हुई।
चढ़ी हुई है वह किसी देवता पर
जहाँ से लगता है सारा जग सुन्दर।
'४२

सड़क के किनारे दूकान है।
पान की, दूर एक्कावान है
घोड़े की पीठ ठोंकता हुआ,
पीरबख़्श एक बच्चे को दुआ
दे रहा है, पीपल की डाल पर
कूक रही है कोयल, माल पर
बैलगाड़ी चली ही जा रही है।
नीम फूली है, ख़ुशबू आ रही है,
डालों से छन-छनकर राह पर
किरनें पड़ रही हैं, वाह पर
वाह किये जा रहा है खेत में
दाहनी तरफ़ किसान, रेत में
बाईं तरफ़ चिड़ियाँ कुछ बैठी हैं,
खुली जड़ें सिरसे की ऐंठी हैं।

'४३

निशा का यह स्पर्श शीतल
भर रहा है हर्ष उत्कल।
तारिकाओं की विभा से स्नात
आलियों की कुन्द-कलिका-गात;
हिल रहा है श्वेत अञ्चल शात
पवन से अज्ञात प्रतिपल।
चन्द्र-प्रिय-मुख से लगे हैं नयन,
शिखर-शेखर भवन पर है शयन,
वायु व्याकुल कर रही है चयन
अलक-उपवन-गन्ध अन्ध - चपल।
शिखर के पद पर प्रखर जल-धार
बह रही है सरित,—सुप्त विचार
प्रणयियों के, हैं हृदय पर हार
शब्द-सुमनों के, अमल छल - दल।

'४३

तुम चले ही गये प्रियतम
  हृदय में प्रियछवि नहीं ली।
व्यर्थ ऋतु के दृश्य-दर्शन,
  व्यर्थ यह रचना रसीली।
खुले उर की प्रेमिका की
  गन्ध का वाहक नहीं अब,
मुक्त-नयना सङ्गिनी का
  पथिक परिचायक नहीं अब;
खुली जो मुरझा चली कलि,
  बँधी छबि हो गई ढीली।
बरसने को गरजते थे
  वे न जाने किस हवा से
उड़ गये हैं गगन में घन,
  रह गये हैं नयन प्यासे,
उड़ रही है धूल, धाराधर,
  धरा होगी न गीली।

चूँकि यहाँ दाना है

इसीलिए दीन है, दीवाना है।

लोग हैं, महफ़िल है,

नग़मे हैं, साज़ है, दिलदार है और दिल है,

शम्मा है, परवाना है,

चूँकि यहाँ दाना है।

आँख है, लगी हुई;

जान है, जीवट भी है भगी हुई,

दोनों आँखोंवाला है, काना है,

चूँकि यहाँ दाना है।

अम्मा है, बप्पा है,

झापड़ है और गोलगप्पा है,

नौजवान मामा है और बुड्ढा नाना है,

चूँकि यहाँ दाना है।

'४२

जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे-नीले पत्तों का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आई हुई;
गहरे अँधेरे का डेरा था,
किनारे सुनसान थे, जुगनू के
दल दमके—यहाँ-वहाँ चमके,
वन का परिमल लिये मलय बहा,
नारियल के पेड़ हिले क्रम से,
ताड़ खड़े ताक रहे थे सबको,
पपीहा पुकार रहा था छिपा,
स्यार विचरते थे आराम से,
उजाला हो गया और—तारा दिपा,
लहरें उठती थीं सरोवर में,
तारा चमकता था अन्तर में।

'४२